



शिक्षा, शिक्षण, शिष्य व शिक्षक: एक विमर्श

धर्मेन्द्र कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, कार्यवाहक प्राचार्य, संस्कृत विभाग, संस्कृत महाभाषा राजकीय महाविद्यालय, श्रावस्ती (उ०प्र०) भारत

Received- 27.11. 2019, Revised- 30.11.2019, Accepted - 04.12.2019 E-mail: guptadharmendra@gmail.com

सारांश : 'शिक्षा' समाज को संस्कारित कर उसे उच्चतम परिवेश प्रदान करने का एक श्रेष्ठ उपागम या दृष्टिकोण है। सम्य समाज की संकल्पना हम तबतक नहीं कर सकते जबतक कि उस समाज की शैक्षिक प्रक्रिया का यथोचित, सार्विक, निष्पक्ष अध्ययन न कर लें। कालक्रम से अथवा युगानुरूप यह शिक्षा अपने रूप-स्वरूप को परिवर्तित करती रही है। यही कारण है कि इसका प्रयोजन सामान्य से विशिष्ट होता रहा है। सृष्टि के आदि से लेकर अद्यावधि तक इसके कलेवर को लेकर विमर्श होते रहे हैं। शास्त्रों में शिक्षा के व्युत्पत्ति सहित इसके अर्थों का सूक्ष्मतम विश्लेषण मिलता है तद्यथा— शिक्ष धातु, भाव अटाप् स्त्री प्रत्यय से निष्पन्न है, शिक्षा शब्द। अधिगम, अध्ययन, ज्ञानाभिग्रहण—इसके अर्थ हैं। जैसा कि कविकुलगुरु कालिदास के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रघुवंशम् में आया भी है।

कुंजी शब्द – संस्कारित, उच्चतम परिवेश, श्रेष्ठ उपागम, सार्विक, निष्पक्ष, युगानुरूप, कलेवर, स्त्री प्रत्यय।

शिक्षा विशेष लघु हस्ततया (रघु०६६) अर्थात् विशेष रूप से सीखे गये—स्पष्ट है कि सीखना ही शिक्षा है। दूसरे अर्थों में उक्त है कि 'किसी कार्य को करने के योग्य होने की इच्छा, निष्ठा होने की इच्छा आदि। वेद हमारे सम्पूर्ण ज्ञान के सर्वस्व हैं। चतुर्वेदों को समझने के लिए हमें शङ्खवेदांगो—शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष व कल्प—का आश्रय लेना पड़ता है जिनमें प्रथम स्थान शिक्षा वेदांग का ही है उसी के सम्यक् अनुशीलन से हम किसी भी शास्त्र के पारंगत विद्वान् बन सकते हैं। वर्तमान में उपलब्ध ३६ शिक्षा ग्रन्थों, जैसे याज्ञ वल्क्य शिक्षा, व्यास शिक्षा, नारद शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा आदि में, पाणिनीय शिक्षा अति प्रमुख है। शिक्षाग्रन्थों में विशेषतया वर्णाचारण विधि का सांगोपांग विवेचन उपलब्ध होता है, यथा वर्णों का शुद्ध उच्चारण कैसे हो, उनका उच्चारण स्थान क्या है? यत्न कैसा होना चाहिए? आदि। आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में शिक्षा लक्षण का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'स्वर वर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा।' अर्थात् स्वर, वर्णादि के उच्चारण प्रकारों की जहाँ कथन किया जाय, वही शिक्षा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा का स्वरूप अग्रवत् निरूपित है—'वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम, साम, सन्तानः। इत्युक्तः शिक्षाध्यायः। (तै०६१) इसी बात को पूर्व में ही वैयाकरण महर्षि पाणिनि ने भी व्यक्त कर दिया था कि 'वर्ण से अभिप्राय अकारादि, स्वर से आशय उदात्तादि, मात्रा से मतलब ह्रस्वादि, बल से अर्थ है स्थानप्रयत्न, साम साम्यविधि से माधुर्यादिगुणसमन्वित वर्णाच्चारण से है व संतान है संहितापाठ का अनुसरण करके संधि नियमों के अनुकूल पदों का प्रयोग। शिक्षा का उचित अनुप्रयोग, बिना इसके शास्त्रीय पक्ष को जाने हम नहीं कर सकते। प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य नितान्त आस्तिक व आध्यात्मिक प्रकृति का था जिसके अन्तर्गत

शारीरिक, वाचिक मानसिक, हार्दिक व बौद्धिक समग्र उन्नति ही केन्द्रविन्दु थी। दूसरे अर्थों में हम उसे नितान्त सांस्कृतिक कह सकते हैं। उस काल में व्यक्तिगत परिष्कार, सर्वोत्तम संस्कार माना जाता था और यह उचित ही था क्योंकि अन्ततः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है, यदि उसका आचार—विचार संस्कारित होगा तो वह जिस समाज में रहेगा उस समाज का चतुर्दिक् उपकार ही होगा। इस नजरिये से सोचने पर उस समय प्रचलित शिक्षा, आज की तुलना में उत्तम थी। आज की शिक्षा प्रणाली पूर्णतया पूर्वकाल की शिक्षा व्यवस्था से बदल गयी है। उस काल में जहाँ—अर्थ या वित्त या मुद्रा—संसाधन के अन्तर्गत आते ही नहीं थे, सब कुछ धन से परे था, केन्द्र में इसका नामों निशान न था वहीं आज बिना धन के शिक्षा की कल्पना तक नहीं कर सकते। आज शिक्षा का उद्देश्य आस्तिकता, आध्यात्मिकता से रहित होकर नितान्त आर्थिक या मौद्रिक या वित्तीय हो गया है। अब आप निर्धन हैं तो तथाकथित प्रगतिशील शिक्षा के बारे में सोच नहीं सकते, ग्रहण करने की बात ही अलग है। आज हम शिक्षा को लेकर मिथ्या, आधारहीन व भ्रान्त धारणा के शिकार हैं कि जबतक शुल्क के रूप में पर्याप्त रकम न अदा कर दें तबतक सोचते हैं कि हमारा पाल्य सुयोग्य शिक्षा से वंचित है। वाह रे हमारे गलत विचार का सबलीभूत होना। यह बात अब सत्य है कि हमारे जीवन व रहन—सहन की शैली अब बदल गयी है, बिना धन के हम कुण्डा, अवसादादि की अवस्था में, समाज में सहअस्तित्व नहीं कर पायेंगे। फलतः हमारा क्षरण हो जायेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। आखिर में यह परिस्थिति क्यों आयी है? इसका कारण है सही अर्थों में भौतिकवादी मनःस्थिति प्रादुर्भाव फलतः उसका जड़ जमा लेना। आज हम शिक्षा के वास्तविक अभिप्राय को विस्मृत कर गये हैं।



सूचना की अतिशय उपलब्धतादि को हम शिक्षा मान लिये हैं। यही कारण है कि तकनीकी आधारित शिक्षा व उससे प्राप्त आजीविका को ही हम वास्तविक शिक्षा मानने लगे हैं। आज की भागती व परेशान दुनियां में जब अशांति चहुँओर व्याप्त है तो हमें वास्तविक श्रेय वाली विद्या, जो परम कल्याणकारक है, का अनुगमन करना चाहिए, जिसका सार है कि –

अन्तो नास्ति पिपासायाःसंतोषं परं सुखम्।

तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः।।

अर्थात् पिपासा या लिप्सा का कोई अन्त नहीं है, संतोष परम् सुखागार है, यही कारण है कि जो परम् ज्ञानी है वह संतोष को ही सर्वोत्तम लभ्य वस्तु मानता है। वस्तुतः यही उचित ही है क्योंकि अन्य स्थलों पर भी प्राप्त होता है—

न जातु कामःकामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा दृष्णवर्तमेव भूय एवाभिवर्धते।।

अर्थात् कामनाओं के उपभोग से कामनाएँ शान्त होने के बजाय और प्रज्वलित होती हैं, उसी प्रकार जैसे अग्नि को हवि डालने पर वह और भड़कती है। कहने का निहितार्थ मात्र इतना है कि अधिकतम सात्विक सुख की संसाधिका होना ही शिक्षा का बृहत्तम उद्देश्य होना चाहिए है जो प्राचीन शैक्षिक उपागम में स्पष्टतया था परन्तु आधुनिक शैक्षिक परिवेश में इसका कोई स्थान ही नहीं और यही कारण है कि लोग तरह-तरह के झंझावातों से घिरे, उलझे, बिखरे व परेशान हालात में हैं।

हमारे शोधविन्दु का द्वितीय प्रस्थान 'शिक्षण' है। शिक्षण शब्द की व्युत्पत्ति शिक्ष धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाकर होती है, जिसका अर्थ है सीखना, अधिगम, ज्ञानार्जन, अध्यापन, सिखाना होता है। क्या पढ़ाया जाए? कैसे पढ़ाया जाए? क्यों पढ़ाया जाए? आदि इसके अन्तर्गत समाहित है। शिक्षण जितना समावेशी, लोककल्याणकारी, जनकेन्द्रित होगा उसको उतना ही प्रभावी माना जायेगा। आज शिक्षण पाठ्यक्रम व पाठ्यचर्या का कलेवर समेकितरूप से परिवर्तित हो गया है। वैश्विक परिदृष्ट्य के छत्रछाया में नये-नये विषयों का सूत्रपात हो रहा है तदनुसार प्रत्येक अपने को प्रगतिशील मानने वाले देश नये ज्ञानविज्ञान की परिधि में अपने शिक्षण को गति देते हुए नूतन प्रकरणों से संवलिप्त सूचना का संकलन करते हुए उच्चतम ज्ञानालोकपुञ्ज मानते हुए उसी को शिक्षा व उसके पठन-पाठन को शिक्षण स्वीकार कर रहे हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि व्यक्ति को सुयोग्य व सभ्य नागरिक बनाया जाय ताकि उसकी समझ ऐसी हो कि किसी के अधिकारों का वह हनन न करे बल्कि रक्षोपाय करने हेतु संनद्ध व तत्पर रहे। वही शिक्षण का मुख्य केन्द्र होना चाहिए।

'शिष्य' हमारे शोधपत्र का तृतीय विवेच्य प्रकरण है। शिष्य इस प्रक्रिया की अहम कड़ी है। शास् धातु क्यप् प्रत्यय से निःसृत इस शब्द का अर्थ है छात्र, चेला, विद्यार्थी। भगवद्गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से भी कहा कि 'शिष्यस्तैहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।७७।। संपूर्ण ज्ञान विज्ञान के आदान-प्रदान का मुख्य अवलंब शिष्य ही होता है, यदि वह सजग, होशियार, प्रत्युत्पन्नमतिव है तो शिक्षा, शिक्षण व शिक्षक की समस्त क्रिया सफलीभूत होगी अन्यथा निरर्थक हो जायेगी। इस आशय की उद्घोषणा महान नाटककार भवभूति भी करते हैं, उनके अनुसार 'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे।

न तु तयोःज्ञाने वृत्तिं करोत्यपहन्ति वा।।

भवन्ति च पुनःभूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा।

प्रभवति शुचिःबिम्बग्राहे मणिः न मृदां चयः।।

अर्थात् शिक्षण कक्ष में गुरु समान रूप से शिक्षा देने का कार्य करता है, जिस तरीके से होनहार शिष्य को उसी प्रकार सामान्य विद्यार्थी को, न ही किसी में सापेक्षिक रूप से ज्ञान का विस्तार करता है न ही किसी से अपहार करता है, परन्तु अन्तिम परिणाम काल में अप्रत्याशित अन्तर दृष्टिगत होता है। इस कारण का उत्तर देते हुए वह स्वयं कहते हैं कि 'जिस प्रकार प्रतिबिम्ब मणि में आता है मिट्टी में नहीं, उसी प्रकार शिष्यों की अभियोग्यता में भी अन्तर होता है। धारणा शक्ति, विचारशक्ति व ज्ञानशक्ति में जमीन आसमान का अन्तर होने के कारण ऐसा होता है।

An ideal teacher would not discriminate in teaching, whether the one is dull and other is more intelligent than others and teach all of them equally without any discrimination-What will happen]if one polishes a lump of mud\It will never shine-But at the same time]the gem will be shine more]when polished-This is the handicraft of the teacher- वस्तुतः अत्यन्त ही उपयुक्त बात नाटककार ने कही है, परन्तु आज हमारी धारणा इस कदर दृढ़ीभूत हो गई है अधिकतम फीस व उच्चतम संसाधन की उपलब्धता ही उसमें कारण है जो नितान्त अव्यावहारिक व असैद्धान्तिक है। हमें इस बात की परख करने की जरूरत है कि वस्तुतः हमारा पाल्य किस विशिष्ट योग्यता का संधारक है और हमें तदनुरूप ही उसका मार्गप्रशस्त करना चाहिए। यही परिवार, समाज, राष्ट्र व समस्त परिवेश के लिए उपयुक्त व जनहितकारी होगा। जबतक हम इसका निर्णय नहीं कर लेते तबतक हम सुयोग्य, सक्षम, समर्थ, दक्ष, कुशल नागरिक सृजित नहीं कर पायेंगे, बात अँधेरे घर में तीर चलाने की होगी। आज देखने में आता है कि अभिभावक घोर आशा में आशान्वित रहते



हुए, बिना पाल्यों के बारे यथातथ्य जाने, अपनी महत्वाकांक्षा को उनके ऊपर थोपते हुए, उन्हें कुंठाग्रस्त, तनावग्रस्त, अवसादग्रस्त बना रहे हैं। फलतः उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है, कुछ तो गलत कदम उठाने जैसे आत्महत्या, अपराध क्षेत्रादि में जाने के लिए बाध्य हो जाते हैं जो कि पूर्णतः अनैतिक है। अतः समस्त गतिविधि का जो आधार है, उस शिष्य का यथोचित मूल्यांकन सामयिक आवश्यकता है। तभी हमारा प्रयास सार्थक होगा।

शिक्षा जैसे पवित्र कृत्य में संलग्न शिक्षक हमारे शोधविषय का चतुर्थ उपविषय है। शिक्ष धातु णिच् कृण्वुल् प्रत्यय ने निष्पन्न यह शब्द बड़ा गूढार्थक है, यद्यपि इसका सामान्य अर्थ सीखने व सिखाने वाला होता है तथापि मेरे अनुसार समाज को अपने सद्विवेक से जो भी सद्मार्ग पर प्रवर्तित करने में समर्थ, सशक्त व सक्षम हों वे सारे लोग इस संज्ञा के सम्यक् पात्र हैं। शिक्षक को ही बहुधा आचार्य उपाधि से भी उपहित करते हैं। आचार्य के संदर्भ में निरुक्तकार यास्कजी ने तीन अति सुन्दर व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं पहली है— 'आचार्यः आचारं ग्राह्यति' अर्थात् आचार्य वह है जो अपने शिष्यों में समाजोन्नयनानुकूल सुनम्य व सुसंस्कृत व्यवहारगम्य आचरण समारोपित करता है अति सदाचारी बनने के लिए सकारात्मक प्रेरणा देता है। दूसरी है—आचिनोति अर्थात्, अर्थात् आचार्य वह है जो अपने शिष्यों की बुद्धिगुणा में विभिन्न प्रासंगिक अर्थों—शास्त्रों के रहस्यों को उद्घाटित कर, उनका सम्यक् चयन करता है। विद्यार्थियों को सर्वशास्त्र निष्णात बनाता है। तीसरी निष्पत्ति दिया कि —'आचिनोति बुद्धिम् इति वा' अर्थात् आचार्य वह है जो विद्यार्थी में विविध उत्तमोत्तम बुद्धि—ज्ञान, विज्ञान, लोकानुभव इत्यादि का चयन कर, चुन चुन कर ज्ञान कौशलान्वित करता है। यास्कजी का यह विचार निःसंदेह अद्वितीय है। फलतः परिष्कृत, संस्कृत, परिमार्जित, परिशोधित, प्राञ्जल समाज का प्रशस्तीकरण कर व्यापक राष्ट्रोन्नयन का कार्य सिद्ध करता है। यद्यपि उसके प्रयत्न का तत्काल कोई प्रत्यक्ष प्रतिफल दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि उसका योगदान प्रत्यक्षसिद्ध न हो, अनुभवसिद्ध या

अनुभूतिसिद्ध होता है वह सहृदय—हृदयसिद्ध संवेदना का विषय है। प्रसिद्ध नाटककार कविकुलगुरु कालिदास ने शिक्षक के संदर्भ में जो सद्संकल्पना दे दी है वह सर्वकालोचित है, निस्सन्देह किसी शिक्षा शास्त्री में यह तर्कबुद्धि नहीं होगी कि वह उनके विचार का तनिक भी खंडन कर दे। वे कहते हैं कि 'शिल्पक्रिया कश्चिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता। यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरिप्रतिष्ठापयितव्येव।।' (मालविका-1/6)

अर्थात्, कुछ शिक्षक स्वयं विशेषयोग्यता सम्पन्न होते हैं, कुछ अपनी योग्यता को दूसरों के पास पहुंचाने में दक्ष होते हैं, वही शिक्षक योग्यतम मानना चाहिए जो स्वयं योग्य हो और दूसरों को भी योग्य बना सके।

कालिदास की उपर्युक्त भावना का जब तक सबलीकरण नहीं होगा, तबतक उपयुक्त शिक्षक मिलना असंभव है। समस्त सामाजिक प्रशस्तीकरण का दारोमदार एक शिक्षक के कंधे पर ही होता है।

उपर्युक्त शोध के आलोक में निष्कर्षतया यही कहना है कि शैक्षिक परिदृश्य के उपर्युक्त चारों उपागमों की सटीकता, श्रेष्ठता व समन्वयन की उच्चाभिव्यक्ति ही समाज के चतुर्दिक उत्थान या अन्ततः हम कह सकते हैं कि समावेशी समाज के कारणभूत कारक हैं। उनमें उत्कृष्टता का आधान ही सभ्य, समुन्नत व्यवस्था के आद्यन्त हैं इसका सम्यक् अनुपालन सबका नैतिक व पुनीत दायित्व है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लघुसिद्धान्तकौमुदी श्रीवरदराजध्वश्रीधरानन्द शास्त्री।
2. संस्कृत—हिन्दीकोश — वामन शिवराम आप्टे।
3. कालिदास के काव्य— रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री।
4. निरुक्तम्— डॉ कपिलदेव शास्त्री।
5. उत्तररामचरितम्— डॉ कपिलदेव द्विवेदी।
6. संस्तनिबन्धशतकम्— डॉ कपिलदेव द्विवेदी।
7. फेसबुक।
8. गूगल।
9. कठोपनिषद्— डॉ विन्ध्यवासिनी पाण्डेय 'पराशर'।
